जो छोड़ गये वे भी रहेंगे

— शंभु दयाल सिंह

अनुराग प्रकाशन, वाराणसी

जो छोड़ गये : वे भी रहेंगे

'जो छोड़ गये : वे भी रहेंगे !'

बहुत द्विधा तथा जोड़ते-काटते अन्त में इसी शीर्षक पर आया हूँ। पहले कुछ और ही सोचा था—'कुछ हैं : कुछ साथ छोड़ गये।' फिर बाद में जब रचनाओं को एक जगह जुटाने लगा तब कसक यह हुई कि जो हैं और जो चले गये, दोनों को एक साथ नहीं जोड़ूं और तब अन्त में यही किया कि जो हमें छोड़कर चले गये, उनकी स्मृति को पहले सँजो लूं और जो हैं, वे रहें उन्हें हम जाने ही क्यों दें।

संस्मरण एक ऐसी विधा है, जिसे आदमी अपने आपसे कभी अलग नहीं कर पाता। जो लिख नहीं सकते, उनकी बात अलग है, लेकिन जो लिख सकते हैं वे यदि ईमानदारी से संस्मरण लिखें तो यह जीवनी, इतिहास और साहित्य के यथार्थ का सम्यक बोध होगा।

'जो छोड़ गये : वे भी रहेंगे' के पहले भी मेरी इस विधा की तीन पुस्तकें पाठकों के सामने आ चुकी हैं—'कुछ बातें : कुछ लोग', 'यादों की [illegible]' तथा 'पास से देखने का सुख!' अब यह चौथी किताब उन्हें लेकर है, जिन पर पहली पुस्तकों में नहीं लिख सका। हालांकि चाहते-न चाहते भी कुछेक रचनाएं ऐसी हैं, जो मेल खाती हैं, लेकिन तथ्य कुछ और ही उभरकर हुए हैं।

जो नहीं हैं, उनके प्रति कीचड़ उछालने की अपेक्षा हम श्रद्धा ही उंडेल सकते हैं। अतः जिनके संबंध में लिखा है, यह मानकर कि उनका महत्त्व ही पाठक तक पहुँचे और एक साहित्यकार के नाते मेरा अपना उद्देश्य भी सदा यही रहा है कि साहित्य के सरल, रोचक तथा स्वस्थ पक्ष को पाठकों के सामने रखूं।

मेरी अन्य रचनाओं के समान ही पाठक इस पुस्तक को भी अपनाएँगे, इसी विश्वास के साथ—

कामता-सदन, बोरिंग रोड
पटना–८०० ००१

–शंकर दयाल सिंह

एक-एक कर वे साथ छोड़ते गए

लोकसभा में मैं छह साल रहा और उन छह वर्षों की जो सबसे कष्टकारी स्मृतियाँ अभी तक आँखों के सामने बगुलों की कतार के समान झाँकती हैं, वे हैं— अपने अनेक संसदीय साथियों का एक-एक करके साथ छोड़कर जाना, उनकी खाली की हुई कुर्सियाँ श्रद्धांजलियों की औपचारिकताएँ तथा सदन की कार्रवाई की कुछ देर के लिए अथवा पूरे दिन के लिए स्थगित किया जाना। सन् १९७१ से लेकर १९७७ तक जब मैं लोकसभा का सदस्य था, मैंने ठीक से गिना तो नहीं लेकिन मेरा ख्याल है कि तीन दर्जन के करीब माननीय सदस्य इस तरह विदा हो गये। कुछ के चले जाने को हमने केवल औपचारिक रूप से लिया, कुछ के असामयिक निधन को हमने और पूरे देश ने अपूरणीय क्षति समझा और कुछ की मृत्यु पर हम जार-जार रोये।

लेख का कलेवर बहुत लम्बा न खिंच जाए इस ख्याल से पाँचवीं लोकसभा के कार्यकाल (१९७१ से फरवरी १९७७ तक) में सहसा हमें छोड़कर चले जानेवाली ऐसी दस विभूतियों को यहाँ श्रद्धापूर्वक स्मरण कर रहा हूँ, जिनके अभाव को भूल पाना कठिन है। उनकी विदाई की तारीखें मुझे ठीक से स्मरण नहीं हैं और मैं उस जंजाल में पाठकों को उलझाना भी नहीं चाहता हूँ।

जहाँ तक मुझे याद है, सबसे पहले हमसे बिछुड़ने वालों में थे भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) के वरिष्ठ सदस्य और लोकसभा के जाने-पहचाने व्यक्तित्व **ए० के० गोपालन्**। उस समय सदन में मार्क्सवादी पार्टी सत्ताधारी दल के बाद सबसे बड़ी पार्टी थी। अतः उसके नेता के रूप में गोपालन् विपक्षी सदस्यों की पंक्ति में प्रथम कुर्सी पर बैठते थे। मौका आने पर सबसे पहले बोलने के हकदार भी वे ही थे और बड़ी सुलझी और मर्यादित भाषा का प्रयोग करते थे। जब कभी सदन में वे कोई मामला उठाते थे, तो सब सदस्य बहुत गंभीरता से उन्हें सुनते थे। पर वे अपनी बहुमूल्य राय देने के लिए सदन में बहुत दिन नहीं रह पाये और पहले ही साल सदन में उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने का दुःखद अवसर उपस्थित हो गया।

कुछ ही दिनों बाद, गुजरात के सुप्रसिद्ध गांधीवादी नेता **इंदुलाल याज्ञिक भी हमारे बीच से उठ गये, जो अहमदाबाद से कांग्रेस के विरोध में चुनकर आये थे।** उनकी अपनी प्रतिष्ठा थी; अतः जब भी वे चुनाव लड़े, विजयी रहे। पाजामानुमा फुलपैंट, बुशशर्ट तथा सिर पर गांधी टोपी—यह उनकी पहचान थी। सरल और सीधे इतने कि विश्वास ही न हो कि किसी जमाने में वे क्रांतिवीर रहे थे। याज्ञिकजी बहुत कम बोलते थे। जब कभी बोलते थे, तो उनकी आवाज से सत्य और निष्ठा टपकती थी। गांधी के प्रदेश के इस नेता की काया में मांस की जगह संकल्प की ही छाया नजर आती थी।

बिहार में कभी मुख्यमन्त्री और अनेक वर्षों तक मंत्री रहने के बाद **पं० विनोदानंद झा** शायद पहली बार लोकसभा के लिए चुनकर आये थे। प्रायः वे हम लोगों से कहा करते थे कि इस उम्र में अपने प्रदेश को छोड़कर यहाँ आना उन्हें अच्छा नहीं लगा। विनोदा बाबू बहुत मोटे थे तथा जब से वे लोकसभा में आये, उनका स्वास्थ्य कुछ ऐसा रहा कि शायद ही कभी वे संसद भवन के मुख्यद्वार से अपने पाँवों चलकर सदन के अन्दर आये हों। गेट पर गाड़ी से उतरने के बाद उनके लिए ह्वील-चेयर की व्यवस्था की जाती थी। इस प्रकार बैठे-बैठे वे लोकसभा की लाबी तक जाते थे और वहाँ से बहुत मुश्किल से तीन-चार कदम चलकर सदन में प्रवेश करते थे। गठिया का इलाज कराने वे कोट्टयम (केरल) गये और वहीं पर उनका देहान्त हुआ। उनके प्रति हम सभी की श्रद्धा व्यक्तिगत स्तर पर भी थी। अतः इस अवसर पर दुःख का संताप कुछ अधिक ही था।

याज्ञिकजी के निधन से खाली हुए अहमदाबाद निर्वाचन-क्षेत्र से पी० सी० मावलंकर चुनकर आये तथा विनोदानंद झा के निधन से रिक्त हुई दरभंगा (बिहार) की सीट ललितनारायण मिश्र ने भरी।

लोकसभा के सदस्य **मोहन कुमारमंगलम्** केन्द्रीय कैबिनेट मन्त्री के अतिरिक्त एक उभरते हुए नेता भी थे। उनकी मृत्यु पर श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए प्रधानमन्त्री इन्दिरा गाँधी ने कहा था कि अभी तो उनके और अच्छे दिन आने बाकी थे। कुमार-मंगलम् दक्षिण की यात्रा से दिल्ली वापस आ रहे थे और पालम हवाई अड्डे से कुछ ही दूरी पर उनका विमान दुर्घटनाग्रस्त हो गया, जिसके मलवे से उनका शव निकाला गया। वह दृश्य बड़ा ही हृदयविदारक था। मोहन कुमारमंगलम्, सिद्धार्थशंकर राय और एच० आर० गोखले उस समय सदन के सदस्य थे और तीनों सुप्रसिद्ध विधि-विशेषज्ञ थे। सदन में तीनों प्रायः एक ही बेंच पर बैठा करते थे और जब भी कोई गंभीर मसला उठता, सत्ताधारी पक्ष का बचाव उनके जिम्मे रहा करता था। तीनों अच्छे वक्ता थे।

मोहन कुमारमंगलम् के उठ जाने से सदन के हर सदस्य के दिल में हूक-सी उठी। उनके पहले उठने वाले सभी बुजुर्ग थे; लेकिन कुमारमंगलम् का हँसता और खिला चेहरा ताजे कमल के समान दिखाई देता था, जिसके अकस्मात् मुरझाने की किसी ने कल्पना नहीं की थी। यह कैसा विचित्र कुसंयोग था कि कुमारमंगलम् मद्रास से दिल्ली के बहुत करीब तक तो आगे की सीट पर बैठकर आये और दिल्ली जब करीब आ गयी तो अपनी सीट छोड़कर पीछे की सीट पर चले गये। जिनके साथ उन्होंने अपनी सीट बदली थी, वे बच गये और काल ने मानो न्यौता देकर मोहन कुमारमंगलम् को अपने पास बुला लिया।

इसी तरह हमारे बीच से विदा हुए **शिवचंडिका प्रसाद,** जो बिहार के जाने-माने मजदूर नेता थे और बाँका संसदीय चुनाव-क्षेत्र से चुनकर आये थे। पहले उनका चुनाव-क्षेत्र जमशेदपुर था। किसी कारण उनका क्षेत्र बदलकर उन्हें बाँका दे दिया गया। इससे वे बहुत नाराज थे और उन्होंने अखबारों में एक बयान भी दिया था कि मुझे बाँका नहीं, बल्कि बाँसघाट (पटना में गंगा-किनारे दाह-संस्कार का स्थल) भेजा जा रहा है। बाँका से वे जीतकर तो आये; लेकिन साल भी नहीं बीत पाया कि बाँसघाट पहुँच गये।

ठीक याद नहीं कि पाँचवीं लोकसभा का वह कौन-सा साल था, जब वी० के० कृष्ण मेनन हमसे सहसा बिछुड़ गये और सदन में खड़े होकर हमें उनकी आत्मा की शांति के लिए प्रार्थना करनी पड़ी। कहना न होगा कि वे मात्र सदन की ही शान नहीं थे, वरन आधुनिक भारतीय इतिहास का एक अध्याय भी थे। कृष्ण मेनन के व्यक्तित्व से एक विचित्र गरिमा टपकती थी और मेरे जैसे कनिष्ठ सदस्यों को यह एहसास गौरवान्वित करता था कि हम भी उसी बेंच पर बैठे हैं जिस पर कि वी० के० कृष्ण मेनन, जिनका नाम न जाने कितने रूपों में बचपन से ही हम सब सुनते आये थे। वे खास-खास मौकों पर ही अपना मुँह खोलते थे, विशेषत: जब अंतरराष्ट्रीय मामले सदन के सामने हों।

वे घड़ी की सूई की नोक से ठीक ११ बजे सदन में अतिथि और प्रश्नकाल की समाप्ति के बाद १२ बजे सदन से उठकर सेंट्रल हाल में चले जाते थे। वहाँ एक-दो बजे तक उनकी बैठक जमती थी और ज्यादातर वामपक्षी खेमे-खाते के सदस्य एवं पत्रकार उन्हें घेरे रहते थे। इस बीच चाय-कॉफी के अनेक दौर हो जाते। संस्मरणों और अनुभवों का उनका भंडार कभी खाली नहीं होता था।

कृष्ण मेनन की चर्चा करते हुए एक बात कभी नहीं भूल सकता। वे जिस कायदे और करीने से सदन में प्रवेश करते थे, वह देखने लायक होता था। जब-तब

वे छड़ी लेकर आते थे और उसे लोकसभा की दीर्घा में बने टेलिफोन-बूथ के अन्दर रखकर लोकसभा में प्रवेश करते ही अन्दर पहुँचकर पहले अध्यक्ष की ओर बहुत कायदे से झुककर उन्हें अपना अभिवादन निवेदित करते, फिर अपना स्थान ग्रहण करते थे। लोकतंत्रीय मर्यादा और परम्परा में उनकी उस गहरी निष्ठा से मुझे बार-बार वह बोध होता था कि इसके लिए ब्रिटेन में हुई उनकी शिक्षा और दीर्घ राजनीतिक दीक्षा भी जिम्मेदार थी।

अपने प्रदेश के एक सदस्य के उठ जाने की स्मृति के साथ ही एक रोचक कहानी भी याद आ रही है। बिहार के एक आदिवासी नेता **दशरथ मुरमु** संथाल परगना से चुनकर आये थे। वे बड़े ही शांत तथा हँसमुख सदस्य थे, जैसे कि अमूमन आदिवासी प्रतिनिधि हुआ करते हैं। एक दिन सबेरे-सबेरे तत्कालीन विदेश-व्यापार मन्त्री श्री ललितनारायण मिश्र के यहाँ से फोन आया कि मुरमूजी नहीं रहे। जब कोई सदस्य राजधानी में, सो भी सदन के चालू सत्र में उठ जाए तो बड़ी संख्या में सदस्यगण दिवंगत के निवास पर पहुँचते थे और राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री भी श्रद्धा-सुमन अर्पित करने आते थे। सदस्य जिस राज्य का होता था, उसके संसद-सदस्यों की जिम्मेवारी उस समय कुछ अधिक ही होती थी। अतः हम बिहार वाले इस शोकपूर्ण घड़ी में वहाँ मौजूद थे। मुरमूजी के पार्थिव शरीर को अस्पताल से उनके निवास पर लाकर वहाँ से निगमबोध घाट ले जाने की तैयारी पूरी कर ली गयी। जब हम सब विदा होने ही वाले थे, घर के अन्दर बैठी रोती हुई पत्नी बाहर आयीं और उन्होंने किसी से पूछा, "आप लोग इन्हें कहाँ ले जा रहे हैं ?"

"निगमबोध घाट", किसी ने धीरे से कहा।

"हम लोग क्रिश्चियन हैं। हम लोगों में तो गाड़ा जाता है, जलाया नहीं जाता।" वे उस दुखते क्षण में भी बोल पड़ीं और उसके बाद हमने पादरी बुलवाया और शव को खान मार्केट के पास वाले कब्रिस्तान में ले गये, जहाँ मुरमुजी को दफनाया गया। उस दिन एक भयानक भूल हो जाती। उनका 'दशरथ' नाम सुनकर कोई कल्पना नहीं कर सकता था कि वे ईसाई हैं।

अब एक ऐसे महान व्यक्ति के उठ जाने का जिक्र कर रहा हूँ, जिनसे पूरा देश और विशेषतः हिंदी क्षेत्र अच्छी तरह परिचित रहा। वे थे श्रद्धेय **सेठ गोविंददास**। इसे भी एक संयोग ही कहा जायेगा कि उनके निधन के कुछ दिन पूर्व ही उनके संसदीय जीवन के पचास वर्ष पूरे होने पर संसद की ओर से सेंट्रल हाल में एक भव्य समारोह का आयोजन किया गया था। सचमुच देश के लिए यह भी एक स्मृति-धरोहर है कि सेठजी ने प्रांतीय विधानसभा, केन्द्रीय विधानसभा और लोकसभा में कुल मिलाकर ५० वर्षों का कार्यकाल पूरा किया, जो विश्व में अपने ढंग का एक अलग रेकार्ड कहा

जायेगा। शायद चर्चिल तथा ब्रिटिश पार्लमेंन्ट के एक-दो अन्य सदस्यों का ही संसदीय जीवन इतना लम्बा रहा। लेकिन उनमें और सेठजी में एक मूलभूत भेद यह था कि सेठजी ने न तो कभी अपना दल या निर्वाचन-क्षेत्र बदला और न कभी हारे। इससे भी बड़ी बात यह थी कि उन्हें प्राप्त होनेवाले वोटों का प्रतिशत हर बार पिछले चुनाव से अधिक हो जाता था। सेठजी का चुनाव-मुद्दा निश्चित रूप से हिंदी का ही होता था, जिसके लिए उनका जीवन समर्पित था।

सेठजी मुझसे काफी स्नेह रखते थे तथा हिंदी के सम्बन्ध में यदा-कदा छोटे-मोटे सवाल सदन में उठाने का आदेश मुझे दिया करते थे। स्वयं तो वे कम ही प्रश्न करते थे; लेकिन मेरे ऐसे प्रश्नों पर उनकी ओर से पूरक प्रश्न अवश्य उठाये जाते थे। उनकी सरलता और निष्ठा मैं कभी भूल नहीं सकता। वे अत्यन्त धनाढ्य कुल-परम्परा में पैदा हुए थे; पर इसकी कोई झलक उनके वेश या बरताव में नहीं मिलती थी। एक बार उन्होंने मुझे बताया था कि चुनावों में वे निर्वाचन-आयोग द्वारा निर्धारित राशि से एक भी पैसा अधिक खर्च नहीं करते। सचमुच अब ऐसे लोगों की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

अब एक ऐसी मृत्यु पर आता हूँ, जिसके समाचार ने देश को दहलाकर रख दिया और जो आज भी रहस्य ही बनी हुई है। वह असामयिक और करुण मृत्यु थी **श्री ललितनारायण मिश्र** की, जो उस समय केन्द्रीय कैबिनेट के सदस्य थे और देश के बहुचर्चित व्यक्ति थे। रेलमन्त्री की हैसियत से वे बिहार के समस्तीपुर स्टेशन पर नयी रेलवे-लाइन का उद्घाटन करने गये थे और जिस मंच पर बैठकर भाषण दे रहे थे, उस पर बम-विस्फोट हुआ और वे घायल हो गये। वहाँ से उन्हें दानापुर लाया गया, जहाँ दूसरे दिन उनकी मृत्यु हो गयी।

जहाँ तक मुझे स्मरण है, उन दिनों सदन का सत्र चल रहा था। मैं उस दिन ९ बजे प्रातः भूतपूर्व केन्द्रीय मन्त्री और मध्यप्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल श्री सत्यनारायण सिंह से मिलने मध्य प्रदेश भवन गया हुआ था। वे समस्तीपुर के ही रहने वाले थे; अतः समस्तीपुर जैसी जगह में इतनी बड़ी दुर्घटना हो जाए, यह दुःख उन्हें साल रहा था। मैं उनके पास बैठ ही रहा था कि उन्होंने कहा, "देखो, कैसा समय आ गया ! समस्तीपुर में ललित पर बम ! सच में समय बदल गया है। मैं तो अवाक् हूँ। चलो, पहले ललित के घर चलते हैं। वहीं पता चलेगा कि उसका क्या हाल है ?" वैसे रेडियो से लगातार यही समाचार प्रसारित किया जा रहा था कि रेलमन्त्री खतरे से बाहर हैं।

सत्यनारायण बाबू मेरे साथ मेरी ही फिएट में बैठ गये, जिसे मैं चला रहा था, और उनकी बड़ी गाड़ी मेरी गाड़ी के पीछे-पीछे चली। हम लोग नं० ९, अकबर

रोड पहुँचे, जो ललित बाबू का सरकारी निवास-स्थान था। बाहर हर जगह सूनापन बिखरा हुआ था। सत्यनारायण बाबू गाड़ी से उतरकर सीधे घर के अन्दर चले गये। "बहू कहाँ हैं?" उन्होंने पूछा। बहुत मुश्किल से एक आदमी सामने आया। "वे सबेरे के हवाई जहाज से पटना गयी हैं।" उसका जवाब था।

"पटना से कोई फोन-वोन आया था? ललित की तबीयत अब कैसी है?" सत्यनारायण बाबू ने पूछा।

"अभी तो कोई खास समाचार नहीं है"। उस आदमी ने सिर झुकाकर उत्तर दिया।

मेरे अन्दर टीस उठी। निश्चित रूप से दाल में कुछ काला है। तभी तो, सत्यनारायण बाबू जैसे आदमी—एक राज्य के राज्यपाल—यहाँ आये हैं, पर स्टाफ वालों में से कोई हमसे मिलने ही नहीं आ रहा है।

"पटना से कोई खबर आए तो मुझे मध्य प्रदेश भवन में खबर करना और कहना कि मैं यहाँ आया था। भगवान से प्रार्थना है, वह ललित को इस संकट से उबारे।" सत्यनारायण बाबू ने कहा। उनका ललित बाबू से पारिवारिक सम्बन्ध था तथा दोनों एक-दूसरे का काफी आदर-प्रेम भी करते थे।

सत्यनारायण बाबू मेरी गाड़ी में पुनः बैठे। हम मध्य प्रदेश भवन की ओर चले, तो मैंने भरे गले से कहा, "बाबूजी, मुझे तो कुछ दूसरी ही आशंका लगती है।"

"क्या?" अधीर होकर उन्होंने पूछा।

"शायद अब ललित बाबू हम लोगों के बीच नहीं हैं।"—मैंने कहा।

मेरे मुँह से यह वाक्य निकलना था कि सत्यनारायण बाबू की आँखों में आँसू आ गये। बोले, "यह कैसे कहते हो?"

"बाबूजी, ललित बाबू के घर पर अभी जिस तरह से हर आदमी आपसे आँखें चुरा रहा था और जिस प्रकार का वहाँ उदास माहौल था, उससे मुझे आशंका हो रही है।" मैंने बहुत सरल भाव से अपनी बात कही।

सत्यनारायण बाबू को मध्य प्रदेश भवन में छोड़कर जब मैं वापस आने लगा तो अनायास नजर सामने एक सरकारी भवन पर पड़ी, जिस पर राष्ट्रीय झण्डा झुकाया जा रहा था।

ललित बाबू की मौत ने हर किसी को झकझोरकर रख दिया था। इसके पहले किसी केन्द्रीय मन्त्री की मृत्यु इस प्रकार नहीं हुई थी। विनोदा बाबू की मृत्यु के बाद उन्हीं के निर्वाचन-क्षेत्र से ललित बाबू पाँचवीं लोकसभा में चुनकर आये थे और उस

लोकसभा का पूरा कार्यकाल समाप्त भी न हो पाया था कि पुनः वह जगह रिक्त हो गयी। एक अच्छे मित्र, नेता, कुशल कार्यकर्ता और पार्टी के वफादार सिपाही के रूप में संसद-भवन और सेंट्रल हाल में उनकी चर्चा वर्षों तक होती रही और आगे भी होती रहेगी।

पहले ही मैं कह चुका हूँ कि लेख को अधिक विस्तार न देने के उद्देश्य से यहाँ मात्र दस व्यक्तियों को ले रहा हूँ, जो बीच में ही हमें छोड़कर चले गये। उन दस की पंक्ति में अन्तिम नाम **पं० कमलनाथ तिवारी** का है, जो पाँचवीं लोकसभा में पाँचवें वर्ष के आस-पास संसार से विदा हुए। तिवारीजी उन गिने-चुने स्वतन्त्रता-सेनानियों में से थे, जिनके क्रांतिकारी जीवन का अधिकांश भाग कालापानी (अण्डमान जेल) में बीता था। पिछले दस-पन्द्रह वर्षों से वे लोकसभा के सदस्य थे; लेकिन दिल्ली उन पर हावी नहीं हो पायी थी। देहाती जीवन की सरलता तथा गाँधीवादी संकल्पशक्ति उनके सौम्य चेहरे से झांकती थी।

आज भी रह-रहकर वे सभी मुझे याद आते हैं, जो लोकसभा आये थे, हमारे साथ ही लेकिन बीच में ही हमारा साथ छोड़कर इहलोक से चले गए। उनकी स्मृतियाँ हमसे कभी जुदा नहीं हो सकती हैं। आज के माहौल और राजनीतिक वातावरण में उन सपूतों को याद करके यही लगता है कि जनतन्त्र के जो सच्चे-सीधे प्रहरी हमसे जुदा होते जा रहे हैं, उनके स्थान की पूर्ति नहीं हो पा रही है।

और हिन्दी का प्रश्न साहित्य का प्रश्न नहीं है, यह तो विशुद्ध तौर से आज राज, सत्ता तथा राजनीति के साथ जुड़ गया है। ऐसे समय में सुधांशुजी जैसे हिन्दी सेवकों की याद आती है, जो काश हमारे बीच होते, तो आज हमें अभिनव रोशनी मिलती तथा गांधीजी का राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में देखा गया सपना, सपना नहीं रहता, सत्य हो जाता।

मैं उनकी स्मृति को सादर प्रणाम करता हूँ।

हँसता हुआ आदमी जो सबको रुला गया

बिरले ही लोग होते हैं इस दुनिया में जो अपनी मौत से न जाने कितनों को रुला जाते हैं और स्वयं मौत के करीब जाकर भी वे कभी नहीं रोते, हँसते रहते हैं। पं० दुर्गाप्रसाद शर्मा एक ऐसे ही इंसान थे, जिनकी मौत ने न जाने कितनों को रुलाया होगा और खुद वे जब तक रहे हँसते रहे, हँसाते रहे। दूसरों के दुख को ओढ़ लेना उनके स्वभाव का धर्म बन गया था तथा जिन्दगी को हर परिवेश में बाँटकर जीने की कला में उन्होंने सिद्धहस्तता प्राप्त की थी। कभी भी कोई शिकन उनके माथे पर थिरकने नहीं पाती थी और कर्ण के समान दोनों हाथों से लुटाने में उन्हें न तो संकोच होता था और न ही किसी प्रकार की चिन्ता।

मेरा उनका सम्पर्क तब से था, जबसे पटना के साहित्यिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन में मैंने हिस्सा लेना शुरू किया। एक साधारण से कद-काठ के आदमी को मैंने हर जगह मुस्तैद पाया, जिसमें विनम्रता और सौजन्यता के साथ-साथ संस्कारों का मणिकांचन योग था और बाद में उनका अपनापन तो मुझे भी भाई के समान ही मिला। लेकिन मैं उस मुलाकात को कभी नहीं भूल सकता, जो मेरी उनकी करीब-करीब आखिरी मुलाकात थी और जो अपने देश से हजारों मील दूर हुई थी।

रोम हवाई अड्डा। सम्भवतः १९७७ की बात होगी। घरेलू दस्तकारी की एक दुकान पर खड़ा मुआयना कर रहा था कि पीछे से किसी सज्जन ने पुकारा—शंकर भाई……!

मैं 'एबाउट टर्न' की मुद्रा में घूम गया, भला इस सुदूर रोम एयरपोर्ट पर हिन्दी में कौन आदमी 'भाई' सम्बोधन के साथ मुझे पुकार रहा है? देखता हूँ कि एक सज्जन धोती, कोट, टोपी पहने, मुँह में सिगरेट दबाए, दोनों बाहें फैलाये मेरी ओर लपके चले आ रहे हैं और आते ही मुझे बाहों में भर लेते हैं। इस बीच उनके मुँह का सिगरेट नीचे गिर जाता है, जिसे वे अपनी बूट से भारतीय पद्धति के अनुसार

दबा रगड़कर बुझाने की कोशिश करते हैं कि तभी एक दबंग आवाज उन्हें दबोच लेती है।

सामने खड़ा मुसोलिनी के समान रोबिला फौजी जवान जोरों से हमारी ओर झपटता है और अंग्रेजी में डाँटता है—यह क्या कर रहे हो, क्या जगह-जगह रखे ऐस्ट्रे तुम्हें नहीं दिखाई देता ?

हम दोनों मिलन में जुटे बाँहों को हटाकर अपनी गलती स्वीकारने और माफी माँगने लगते हैं। और उसके दो-चार-दस मिनटों बाद स्वस्थ होकर कॉफी-शाप पर कॉफी पीने और घर-देश की अनेक सारी बातों में लग जाते हैं।

आज भी रोम का हवाई अड्डा रह-रहकर मेरी आँखों में घूम जाता है और प्रफुल्लता से ओत-प्रोत, आत्मीयता से विभोर, औपचारिकता से दूर वह स्वर, वह व्यक्तित्व, वह कद-काठ मुझे हिला दे रहा है।

श्री दुर्गाप्रसाद शर्मा, जो अब स्वर्गीय हो गये, हमारे बीच से उठ गये, हमें छोड़ गये, सदा-सदा के लिए अपनी सदाशयता, मनुष्यता, उदारता और मिलनसारिता की रेख हमारे ऊपर छोड़ गये—वह सच में लाखों में एक थे। अक्सर उनसे मेरी मुलाकात ट्रेन में, जहाज में, सभा-सोसाइटियों में हो जाया करती थी और जब भी होती थी, वह जिस परम्परागत आत्मीयता के साथ मिलते थे; वह स्मृति भुलाये नहीं भूलती।

संस्कृति उनके रग-रग से चूती थी और मिलने का उल्लास आँखों से झलकता था। सहृदयता केवल वाणी से ही नहीं टपकती थी, बल्कि वह अपने व्यवहारों में उसका उदाहरण पेश कर देते थे। किसी भी साहित्यिक, सांस्कृतिक और सामाजिक काम में वे पीछे रहना नहीं जानते थे। कर्मठता इतनी थी कि फीजी, मारीशस, श्रीलंका, जापान, नेपाल आदि कई देशों में उन्होंने अपने पाँव फैला रखे थे।

हर आदमी जानता है कि जीवन झूठ है, मौत सत्य है—लेकिन झूठ के पीछे दौड़ते-दौड़ते हम सत्य को भूल जाते हैं। शर्मा जी का जीवन सत्य के इतने करीब था कि उनकी मौत हमें झूठी दिखाई देती है।

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन के प्रबन्ध-निदेशक का पद बड़ा हो या छोटा, करोड़ों का वे व्यवसाय करते थे, यह बात छोटी हो या बड़ी; लेकिन सबसे बड़ी बात यह थी कि उनका जीवन केवल अपने लिए न होकर विशेष रूप से औरों के लिए था।

छोटे से कद-काठ में वे एक विशाल आत्मा का पोषण करते थे। कहीं भी और कभी भी उन्होंने भारतीय संस्कृति, आचार-विचार और रहन-सहन का त्याग नहीं किया। जो भी मिला और जिससे सम्पर्क हुआ हर किसी के लिए उनके मन में आदर और अपनापन का भाव था। आज उनका अभाव, सामाजिक संताप है, किसी व्यक्ति की पीड़ा न होकर समाज का और एक बड़े मित्र-वर्ग का दुःख-संताप।

दुनिया से अच्छे लोग उठते जा रहे हैं

होली का राग-रंग अभी समाप्त भी नहीं हुआ था और उसके रोली-गुलाल को शरीर से हटा भी नहीं पाया था कि सहसा सबेरे-सबेरे पटना के महापौर श्री कृष्णनन्दन सहाय का फोन आया–कुछ सुना आपने ?

—नहीं तो !—जी धक से हो रहा था।

—नवल बाबू न रहे।—दूसरी ओर से भींगी हुई आवाज आई और सच में मुझे ऐसा लगा मानों संभले न संभाल पाऊँगा अपने आपको।

भला कैसे क्या हुआ ? दस दिन भी न हुए होंगे जब श्री रामचन्द्र खानजी के यहाँ उनकी बच्ची की शादी में वे हँसते-मुस्कुराते बातें कर गये थे कि दिल्ली जा रहा हूँ और वहाँ दस-बीस रोज रहूँगा, आप भी आइये और मैं वहाँ जाने की बात सोच ही रहा था कि वे दिल्ली से लौट आये और सदा के लिए हम सबको छोड़कर चले गये।

भागा हुआ गया छज्जूबाग, उनके आवास पर, वहाँ जो लोग थे उनसे पूछा कि क्या हाल-चाल है नवल बाबू का, तो एक सज्जन बोले–वे यहाँ से दो-तीन दिनों से बाहर गये हैं। साफ था कि यहाँ के लोगों को कुछ भी पता न था या फिर यह समाचार ही गलत हो। किसी ने झूठ कह दिया हो के० एन० सहायजी को। यह 'झूठ' भी कितना अच्छा लग रहा था कि तभी पता चला राजेन्द्रनगर स्थित अपनी लड़की-दामाद के डेरे पर थे, वहीं हार्ट अटैक हुआ और सदा के लिए सबों को छोड़कर वे चल दिए।

छज्जूबाग अपने डेरे में क्यों नहीं थे ?—किसी से पूछा, तो पता चला कि उनकी बगल में श्री केदार पांडेयजी का डेरा है, उनके लड़के की शादी थी, उसके लिए उन्होंने इनका मकान भी ले रखा था।

मैं राजेन्द्रनगर के उनके उस मकान को भलीभाँति जानता था, क्योंकि कई बार आना-जाना मेरा वहाँ हुआ था, कभी उनके साथ, कभी उन्हें खोजने। भागा गया—देखा नवल बाबू का पार्थिव शरीर बर्फ की सिल्लियों के बीच में वैसे ही स्मित हास लिए था, जिस प्रकार वे स्वयं मित्रों के बीच में हुआ करते थे। वहीं डॉ० श्री निवासजी मिले, उनके डाक्टर भी और निकट के सम्बन्धी भी। काले चश्मे के अन्दर गीली आँखें। पूछने पर बोले—कल से ही हालत गम्भीर थी। बहुत प्रयास किया गया। हार्ट अटैक था। रात में लगा कि ठीक हो जायेगा। लेकिन नहीं, सबेरे-सबेरे दवा-इलाज कुछ भी काम नहीं आया।

विगत २० वर्षों से नवल बाबू का मेरा साथ रहा और इन बीते बीस वर्षों की अनेक स्मृतियाँ सामने आकर खड़ी हो जाती हैं। विधायक के रूप में, उप-मन्त्री के रूप में, संसद-सदस्य के रूप में, मंत्री के रूप में, बिस्कोमान के चेयरमैन के रूप में, प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी के महामन्त्री के रूप में उन्हें नजदीक से देखने और साथ-साथ काम करने का मुझे मौका मिला और आज मैं इतना ही कह सकता हूँ कि उनसे भला आदमी बिहार की राजनीति में ढूँढ़ने से भी कम मिलेंगे। किसी भी दल का कोई व्यक्ति हो या कितना भी किसी से विरोध हो इसकी मलीनता उनके चेहरे पर कभी नहीं आती थी। एक विचित्र संस्कार था उनमें, जो उनके व्यवहार कार्य, बातचीत, रहन-सहन और खान-पान सबमें झाँकता था।

विरोध की बड़ी से बड़ी बात को वे कड़ा होकर प्रकट नहीं कर सकते थे। किसी की बात को काटते समय वे अतिशय सावधान रहते थे कि साँप मरे लेकिन लाठी न टूटे। यानी किसी प्रकार की चोट दूसरे पक्ष को नहीं लगे।

नवल बाबू बिहार के चोटी के नेताओं के साथ रहे थे और उन्होंने उनके साथ काम भी किया था। श्री बाबू अनुग्रह बाबू, महेश बाबू, कृष्णवल्लभ बाबू, विनोदा बाबू, दीप बाबू आदि जो आजादी के समय के सिपहसालार और बिहार के मान्य नेता थे, उनके साथ नवल बाबू ने बहुत आत्मीयता के साथ काम किया तथा महत्त्वपूर्ण पदों को सुशोभित भी करते रहे। १९७१ तक वे बिहार की राजनीति में ही थे, लेकिन १९७१ में लोकसभा के मध्यावधि चुनावों में वे मुजफ्फरपुर से महेश बाबू के मुकाबले खड़े हुए और वहाँ जब उन्होंने महेश बाबू को पराजित किया तब नवल बाबू का नाम राष्ट्रीय मंच पर उभरा। संसद सदस्य के रूप में हम दोनों साथ-साथ रहे। संसद में भी गंभीर विषयों पर उनका विवेचन हर किसी को आकृष्ट करता था। अपनी व्यवहारकुशलता और संस्कारशीलता से भी वे दूसरों को अपनी ओर खींचते थे। लेकिन प्रायः वे आपसी बातचीत में कहा करते थे कि आपलोगों की जब यहाँ आने की ठीक है, मेरे जैसे लोगों का अधिकांश जीवन जब जब बिहार में बीता

तो हमारे लिए वहीं ठीक है। और यही कारण था कि संसद सदस्य रहते हुए भी श्री अब्दुल गफूर की मिनिस्ट्री के बाद जब डॉ० जगन्नाथ मिश्र की पहली सरकार बनी तो वे उसमें कृषिमंत्री के रूप में शामिल होने दिल्ली से पटना आ गये। लेकिन छ महीने की अवधि पूरी होने पर वे पुनः लोकसभा में ही वापस हुए। १९७७ के चुनावों में हम दोनों साथ-साथ पराजित हुए। १९८१ में वे पुनः बिहार विधान सभा के सदस्य अपने पुराने क्षेत्र साहेबगंज से निर्वाचित हुए और अंत समय तक एक पथ पर अडिग रहे।

श्री नवलकिशोर सिंह जैसा दोस्तपरस्त इन्सान का मिलना भी आज दुनिया में कठिन है। हम सभी जब उनके घर जायें तो जिस आत्मीयता के साथ उनका अतिथि सत्कार होता था, उसे भी भूलना कठिन है। इधर चार-पाँच वर्षों से बिना नागा वे अपने ही बागीचे की लीची भी मेरे लिए जरूर लाते।

पुरानी पीढ़ी, जो स्वतन्त्रता पूर्व आई थी और जिसने त्याग और बलिदान किया था तथा जिसके अन्दर सही माने में राष्ट्र की चिन्ता व्यापती रहती है धीरे-धीरे अब समाप्त होती जा रही है। नवल बाबू उसी संस्कार में पनपे, तपे और उतार-चढ़ाव में भी समान रूप से जीने वाले एक अद्भुत व्यक्ति थे। जो भी एक बार उनके साथ हुआ, वह जीवनपर्यन्त उनका होकर रहता था। आज उनके उठ जाने से बिहार का एक ऐसा सपूत उठ गया, जिसकी याद बराबर उनके सान्निध्य में रहे लोगों को आती रहेगी।

राजनीति में दो तरह के लोगों की प्रधानता है। एक वे जो अपने लिए राजनीति में हैं और दूसरे वे जो दूसरों के लिए राजनीति में हैं। नवल बाबू इसी दूसरी कोटि के राजनेताओं में थे। उनका आवास कार्यकर्ताओं का आवास था तथा उनका समय उस जनता का, जिसने उन्हें चुनकर यहाँ भेजा था या जिसके सहारे वे जीवन भर किसी न किसी पद पर रहे।

एक बड़े परिवार में पैदा होने के बावजूद भी उन्होंने बड़प्पन का दिखावा कभी नहीं किया। बड़प्पन को उन्होंने अपने विचारों में ढाला था तथा आमजीवन की तिक्तता को उन्होंने उसके द्वारा मधुर बनाने की कोशिश की थी। कई बार मुझे मौका मिला था उनकी परीक्षा लेने का और मुझे खुशी है इस बात से कि हर परीक्षा में वे खरे उतरे थे। जो कहते थे, वह करते थे। उनकी इस विशेषता को मैं कभी नहीं भूल सकता कि कथनी और करनी का भेद उनके अन्दर कहीं था। आज राजनीति में यह कथनी और करनी का अपनाव कहीं है ही नहीं और यदि है भी तो बिरले लोगों में।

इसका एकमात्र उदाहरण मैं व्यक्तिगत अनुभव द्वारा देना चाहता हूँ। एक बार बिहार अर्स कांग्रेस के अध्यक्ष पद के लिए मेरे और रामलखन जी के बीच में टकराव हुआ और नवल बाबू मेरे प्रस्तावक हुए। उनसे बहुत लोगों ने, जिनमें राष्ट्रीय और प्रान्तीय नेता भी थे, बहुत कहा कि अपना प्रस्ताव वापस ले लें या मुझे बैठने को कहें, लेकिन उन्होंने साफ शब्दों में कहा कि मैं जब प्रस्तावक हूँ तो ऐसा नहीं कर सकता और यदि शंकर दयाल जी को एक भी वोट मिलेगा, तो वह मेरा। बाद में कुछ परिस्थिति ऐसी आई कि मैंने अपना नाम नवल बाबू की सहमति से उनके ही घर बैठकर वापस लिया और तब रामलखनजी निर्विरोध अध्यक्ष हुए। लेकिन मैंने अपना नाम वापस करते हुए एक शर्त रखी कि रामलखनजी जब अध्यक्ष हो जायें तो नवल बाबू को दल का नेता बनायें, दोनों पदों पर स्वयं नहीं रहें। लेकिन उस दिन शर्त मानकर भी बाद में रामलखन बाबू ने ऐसा नहीं किया, जिसका दुःख मुझे भी रहा और अन्त-अन्त तक नवल बाबू को भी।

आज नवल बाबू हमारे बीच नहीं रहे, तो सच में ऐसा लगता है मानो बिहार की राजनीति का एक पंकज हमारे बीच से उठ गया, जो कभी भी पंक की बात नहीं सोचकर पराग में ही मस्त रहता था।